आचार्य श्री के प्रेरणास्पद प्रवचन

[१]

जैन साधना की विशिष्टता

साधना का महत्त्व और प्रकार :

साधना मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। संसार में विभिन्न प्रकार के प्राणी जीवन-यापन करते हैं, पर साधना-शून्य होने से उनके जीवन का कोई महत्त्व नहीं आंका जाता। मानव साधना-शील होने से ही सब में विशिष्ट प्राणी माना जाता है। किसी भी कार्य के लिये विधिपूर्वक पद्धति से किया गया कार्य ही सिद्धि-दायक होता है। भले वह अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष में से कोई हो। अर्थ व भोग की प्राप्ति के लिये भी साधना करनी पड़ती है। कठिन से कठिन दिखने वाले कार्य और भयंकर स्वभाव के प्राणी भी साधना से सिद्ध कर लिये जाते हैं। साधना में कोई भी कार्य ऐसा नहीं, जो साधना से सिद्ध न हो। साधना के बल से मानव प्रकृति को भी अनुकूल बना कर अपने अधीन कर लेता है और दुर्दान्त देव-दानव को भी त्याग, तप एवं प्रेम के दृढ़ साधन से मनोनुकूल बना पाता है। वन में निर्भय गर्जन करने वाला केशरी सर्कस में मास्टर के संकेत पर क्यों खेलता है ? मानव की यह कौन-सी शक्ति है जिससे सिंह, सर्प जैसे भयावने प्राणी भी उससे डरते हैं। यह साधना का ही बल है। संक्षेप में साधना को दो भागों में बांट सकते हैं—लोक साधना और लोकोत्तर साधना। देश-साधना, मंत्र-साधना, तन्त्र-साधना विद्या-साधना आदि काम निमित्तक की जाने वाली सभी साधनाएँ लौकिक और धर्म तथा मोक्ष के लिये की जाने वाली साधना लोकोत्तर या आध्यात्मिक कही जाती है। हमें यहाँ उस अध्यात्म-साधना पर ही विचार करना है, क्योंकि जैन-साधना अध्यात्म साधना का ही प्रमुख अंग है।

जैन साधना—आस्तिक दर्शकों ने दृश्यमान् तन-धन आदि जड़ जगत् से चेतनासम्पन्न आत्मा को भिन्न और स्वतंत्र माना है। अनन्तानन्त शक्ति सम्पन्न होकर भी आत्मा कर्म संयोग से, स्वरूप से च्युत हो चुका है। उसकी अनन्त शक्ति पराधीन हो चली है। वह अपने मूल धर्म को भूल कर दुःखी, विकल और चिन्तामग्न दृष्टिगोचर होता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म का आवरण दूर हो जाय तो जीव और शिव में, आत्मा एवं परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म के पाश में बंधे हुए आत्मा को मुक्त करना प्राय: सभी आस्तिक दर्शनों का लक्ष्य है, साध्य है। उसका साधन धर्म ही हो सकता है, जैसा कि 'सूक्ति मुक्तावली' में कहा है—

"त्रिबर्ग संसाधनमन्तरेण, पशोरिवायु विफलं नरस्य।
तत्राऽपि धर्म प्रवरं वदन्ति, नतं विनोयद् भवतोर्थकामौ ।।"

पशु की तरह निष्फल है। इनमें भी धर्म मुख्य है, क्योंकि उसके बिना अर्थ एवं काम सुख रूप नहीं होते। धर्म साधना से मुक्ति को प्राप्त करने का उपदेश सब दर्शनों ने एक-सा दिया है। कुछ ने तो धर्म का लक्षण ही अभ्युदय एवं निश्रेयस, मोक्ष की सिद्धि माना है। कहा भी है—'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धि रसौ धर्म' परन्तु उनकी साधना का मार्ग भिन्न है। कोई 'भक्ति रे कैव मुक्तिदा' कहकर भक्ति को ही मुक्ति का साधन कहते हैं। दूसरे 'शब्दे ब्रह्मणि निष्णात: संसिद्धि लभते नर' शब्द ब्रह्म में निष्णात पुरुष की सिद्धि बतलाते हैं, जैसा कि सांख्य आचार्य ने भी कहा है—

"पंच विंशति तत्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः।
जटी मुंडी शिखी वाडपि, मुच्यते नाम संशय: ।।"

अर्थात् पच्चीस तत्त्व की जानकारी रखने वाला साधक किसी भी आश्रम में और किसी भी अवस्था में मुक्त हो सकता है। मीमांसकों ने कर्मकाण्ड को ही मुख्य माना है। इस प्रकार किसी ने ज्ञान को, किसी ने एकान्त कर्मकाण्ड-क्रिया को, तो किसी ने केवल भक्ति को ही सिद्धि का कारण माना है, परन्तु वीतराग अर्हन्तों का दृष्टिकोण इस विषय में भिन्न रहा है। उनका मन्तव्य है कि एकान्त ज्ञान या क्रिया से सिद्धि नहीं होती, पूर्ण सिद्धि के लिये ज्ञान, श्रद्धा और चरण-क्रिया का संयुक्त आराधन आवश्यक है। केवल अकेला ज्ञान गति हीन है, तो केवल अकेली क्रिया अन्धी है, अतः कार्य-साधक नहीं हो सकते। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—'हयं नाणं क्रिया हीणं हया अन्नाणओ क्रिया।' वास्तव में क्रियाहीन ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों सिद्धि में असमर्थ होने से व्यर्थ हैं। ज्ञान से चक्षु की तरह मार्ग-कुमार्ग का बोध होता है, गति नहीं मिलती। बिना गति के आँखों से रास्ता देख लेने भर से इष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं होती। मोदक का थाल आँखों के सामने है, फिर भी बिना खाये भूख नहीं मिटती। वैसे ही ज्ञान से तत्वातत्त्व और मार्ग-कुमार्ग का बोध होने पर भी तदनुकूल आचरण नहीं किया तो सिद्धि नहीं मिलती। ऐसे ही क्रिया है, कोई दौड़ता है, पर मार्ग का ज्ञान नहीं तो वह भी भटक जायगा। ज्ञान शून्य क्रिया भी घाणी के बैल की तरह भव-चक्र से मुक्त नहीं कर पाती। अतः शास्त्रकारों ने कहा है—'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष:'। ज्ञान और क्रिया के संयुक्त साधन से ही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि हो सकती है। बिना ज्ञान की क्रिया–बाल तप मात्र हो सकती है, साधना नहीं। जैनागमों में कहा है—

"नाणेण जाणइ भावं, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेणं परिसुज्झइ॥"

अर्थात्—ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि भावों को जानना, हेय और उपादेय पहचानना, दर्शन से तत्वातत्त्व यथार्थ श्रद्धान करना, चारित्र से आने वाले रागादि विकार और तज्जन्य कर्म दलिकों को रोकना एवं तपस्या से पूर्व संचित कर्मों को क्षय करना, यही संक्षेप में मुक्ति मार्ग या आत्म-शुद्धि की साधना है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, श्रद्धा, शक्ति और आनन्द का भंडार होकर भी अल्पज्ञ, निर्बल, अशक्त और शोकाकुल एवं विश्वासहीन बना हुआ है। हमारा साध्य उसके ज्ञान, श्रद्धा और आनन्द गुण को प्रकट करना है। अज्ञान एवं मोह के आवरण को दूर कर आत्मा के पूर्णज्ञान तथा वीतराग भाव को प्रकट करना है। इसके लिये अन्धकार मिटाने के लिये प्रकाश की तरह अज्ञान को ज्ञान से नष्ट करना होगा और वाह्य-आभ्यान्तर चारित्र भाव से मोह को निर्मूल करना होगा। पूर्ण द्रष्टा सन्तों ने कहा—साधको! अज्ञान और राग-द्वेषादि विकार आत्मा में सहज नहीं हैं। ये कर्म-संयोग से उत्पन्न पानी में मल और दाहकता की तरह विकार हैं। अग्नि और मिट्टी का संयोग मिलते ही जैसे पानी अपने शुद्ध रूप में आ जाता है, वैसे ही कर्म-संयोग के छूटने पर अज्ञान एवं राग-द्वेषादि विकार भी आत्मा से छूट जाते हैं, आत्मा अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। इसका सीधा, सरल और अनुभूत मार्ग यह है कि पहले नवीन कर्म मल को रोका जाय, फिर संचित मल को क्षीण करने का साधन करें, क्योंकि जब तक नये दोष होते रहेंगे—कर्म-मल बढ़ता रहेगा और उस स्थिति में संचित को क्षीण करने की साधना सफल नहीं होगी। अतः आने वाले कर्म-मल को रोकने के लिये प्रथम हिंसा आदि पाप वृत्तियों से तन-मन और वाणी का संवरण रूप संयम किया जाय और फिर अनशन, स्वाध्याय, ध्यान आदि बाह्य और अन्तरंग तप किये जायं तो संचित कर्मों का क्षय सरलता से हो सकेगा।

आचार-साधना—शास्त्र में चारित्र-साधना के अधिकारी भेद से साधना के दो प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं—१. देशविरति साधना और २. सर्वविरति साधना। प्रथम प्रकार की साधना आरम्भ-परिग्रह वाले गृहस्थ की होती है। सम्पूर्ण हिंसादि पापों के त्याग की असमर्थ दशा में गृहस्थ हिंसा आदि पापों का आंशिक त्याग करता है। मर्यादाशील जीवन की साधना करते हुये भी पूर्ण हिंसा आदि पापों का त्याग करना वह इष्ट मानता है, पर सांसारिक विक्षेप के कारण वैसा कर नहीं पाता। इसे वह अपनी कमजोरी मानता है। अर्थ व काम का सेवन करते हुये भी वह जीवन में धर्म को प्रमुख समझकर चलता है। जहाँ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भी अर्थ और काम से धर्म को ठेस पहुँचती हो, वहाँ वह इच्छा का संवरण कर लेता है। मासिक छः दिन पौषध और प्रतिदिन सामायिक की साधना से गृहस्थ भी अपना आत्म-बल बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्रतिक्रमण द्वारा प्रातः सायं अपनी दिनचर्या का सूक्ष्म रूप से अवलोकन कर अहिंसा आदि व्रतों में लगे हुए, दोषों की शुद्धि करता हुआ आगे बढ़ने की कोशिश करे, यह गृहस्थ जीवन की साधना है।

अन्य दर्शनों में गृहस्थ का देश साधना का ऐसा विधान नहीं मिलता, उसके नीति धर्म का अवश्य उल्लेख है, पर गृहस्थ भी स्थूल रूप से हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह की मर्यादा करें, ऐसा वर्णन नहीं मिलता। वहाँ कृषि-पशुपालन को वैश्यधर्म, हिंसक प्राणियों को मार कर जनता को निर्भय करना क्षत्रिय धर्म, कन्यादान आदि रूप से संसार की प्रवृत्तियों को भी धर्म कहा है, जबकि जैन धर्म ने अनिवार्य स्थिति में की जाने वाली हिंसा और कन्यादान एवं विवाह आदि को धर्म नहीं माना है। वीतराग ने कहा—मानव ! धन-दारा-परिवार और राज्य पाकर भी अनावश्यक हिंसा, असत्य और संग्रह से बचने की चेष्टा करना, विवाहित होकर स्वपत्नी या पति के साथ सन्तोष या मर्यादा रखोगे, जितना कुशील भाव घटाओगे, वही धर्म है। अर्थ-संग्रह करते अनीति से बचोगे और लालसा पर नियन्त्रण रखोगे, वह धर्म है। युद्ध में भी हिंसा भाव से नहीं, किन्तु आत्म रक्षा या न्याय की दृष्टि से यथाशक्य युद्ध टालने की कोशिश करना और विवश स्थिति में होने वाली हिंसा को भी हिंसा मानते हुए रसानुभूति नहीं करना अर्थात् मार कर भी हर्ष एवं गर्वानुभूति नहीं करना, यह धर्म है। घर के आरम्भ में परिवार पालन, अतिथि तर्पण या समाज रक्षण कार्य में भी दिखावे की दृष्टि नहीं रखते हुए अनावश्यक हिंसा से बचना धर्म है। गृहस्थ का दण्ड-विधान कुशल प्रजापति की तरह है, जो भीतर में हाथ रख कर बाहर चोट मारता है। गृहस्थ संसार के आरम्भ-परिग्रह में दर्शक की तरह रहता है, भोक्ता रूप में नहीं।

'असंतुष्टा द्विजानष्टाः, सन्तुष्टाश्च मही भुजः' की उक्ति से अन्यत्र राजा का सन्तुष्ट रहना दूषण बतलाया गया है, वहाँ जैन दर्शन ने राजा को भी अपने राज्य में सन्तुष्ट रहना कहा है। गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक महाराज और उदयन जैसे राजाओं ने भी इच्छा परिमाण कर संसार में शान्ति कायम रखने की स्थिति में अनुकरणीय चरण बढ़ाये थे। देश संयम द्वारा जीवन-सुधार करते हुए मरण-सुधार द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त करना गृहस्थ का भी चरम एवं परम लक्ष्य होता है।

सर्वविरति साधना—सम्पूर्ण आरम्भ और कनकादि परिग्रह के त्यागी मुनि की साधना पूर्ण साधना है। जैन मुनि एवं आर्या को मन, वाणी एवं काय

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

से सम्पूर्ण हिंसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग होता है। स्वयं किसी प्रकार के पाप का सेवन करना नहीं, अन्य से नहीं करवाना और हिंसादि पाप करने वाले का अनुमोदन भी करना नहीं, यह मुनि जीवन की पूर्ण साधना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवों की भी जिसमें हिंसा हो, वैसे कार्य वह त्रिकरण त्रियोग से नहीं करता। गृहस्थ अपने लिए आग जला कर तप रहे हैं, यह कह कर वह कड़ी सर्दी में भी वहाँ तपने को नहीं बैठता। गृहस्थ के लिए सहज चलने वाली गाड़ी का भी वह उपयोग नहीं करता और जहाँ रात भर दीपक या अग्नि जलती हो, वहाँ नहीं ठहरता। उसकी अहिंसा पूर्ण कोटि की साधना है। वह सर्वथा पाप कर्म का त्यागी होता है।

फिर भी जब तक रागदशा है, साधना की ज्योति टिमटिमाते दीपक की तरह अस्थिर होती है। जरा से झोंके में उसके गुल होने का खतरा है। हवादार मैदान के दीपक की तरह उसे विषय-कषाय एवं प्रमाद के तेज झटके का भय रहता है। एतदर्थ सुरक्षा हेतु आहार-विहार-संसर्ग और संयमपूर्ण दिनचर्या की कांच भित्ति में साधना के दीपक को मर्यादित रखा जाता है।

साधक को अपनी मर्यादा में सतत जागरूक तथा आत्म निरीक्षक होकर चलने की आवश्यकता है। वह परिमित एवं निर्दोष आहार ग्रहण करे और अपने से हीन गुणी की संगति नहीं करे। साध्वी का पुरुष मण्डल से और साधु का स्त्री जनों से एकान्त तथा अमर्यादित संग न हो, क्योंकि अतिपरिचय साधना में विक्षेप का कारण होता है। सर्व विरति साधकों के लिए शास्त्र में कहा है—

"मिहि संथवं न कुन्जा, कुज्जा साहुहि संथवं।"

साधनाशील पुरुष संसारी जनों का अधिक संग-परिचय न करे, वह साधक जनों का ही संग करे। इससे साधक को साधना में बल मिलेगा और संसार के काम, क्रोध, मोह के वातावरण से वह बचा रह सकेगा। साधना में आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि साधक महिमा, व्यक्ति पूजा और अहंकार से दूर रहे।

साधना के सहायक—जैनाचार्यों ने साधना के दो कारण माने हैं— अन्तरंग और बहिरंग। देव, गुरु, सत्संग, शास्त्र और स्वरूप शरीर एवं शान्त, एकान्त स्थान आदि को बहिरंग साधन माना है, जिसको निमित्त कहते हैं। बहिरंग साधन बदलते रहते हैं। प्रशान्त मन और ज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तर साधन है। इसे अनिवार्य माना गया है। शुभ वातावरण में आन्तरिक साधन अनायस जागृत होता और क्रियाशील रहता है, पर बिना मन की अनुकूलता के वे कार्यकारी नहीं होते। भगवान् महावीर का उपदेश पाकर भी कूणिक अपनी बढ़ी हुई लालसा को शान्त नहीं कर सका, कारण अन्तर साधन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रशान्त मन नहीं था। सामान्य रूप से साधना की प्रगति के लिए स्वस्थ-समर्थ-तन, शान्त एकान्त स्थान, विघ्न रहित अनुकूल समय, सबल और निर्मल मन तथा शिथिल मन को प्रेरित करने वाले गुणाधिक योग्य साथी की नितान्त आवश्यकता रहती है। जैसा कि कहा है—

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा, विवज्जणा बाल जणस्स दूरा।
सज्झाय एगंत निसेवणाय, सुत्तत्थ संचितण या धिईय॥"

इसमें गुरु और वृद्ध पुरुषों की सेवा तथा एकान्त सेवन को बाह्य साधन और स्वाध्याय, सूत्रार्थ चिन्तन एवं धर्म को अन्तर साधन कहा है। अधीर मन वाला साधक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। जैन साधना के साधक को सच्चे सैनिक की तरह विजय-साधना में शंका, कांक्ष रहित, धीर-वीर, जीवन-मरण में निस्पृह और दृढ़ संकल्प बली होना चाहिये। जैसे वीर सैनिक, प्रिय पुत्र, कलत्र का स्नेह भूलकर जीवन-निरपेक्ष समर भूमि में कूद पड़ता है, पीछे क्या होगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं होती। वह आगे कूच का ही ध्यान रखता है। वह दृढ़ लक्ष्य और अचल मन से यह सोचकर बढ़ता है कि—"जितो वा लभ्यसे राज्यं, मृतः स्वर्ग स्वप्स्यसे। उसकी एक ही धुन होती है—

"सूरा चढ़ संग्राम में, फिर पाछो मत जोय।
उतर जा चौगान में, कर्ता करे सो होय॥"

वैसे साधना का सेनानी साधक भी परिषह और उपसर्ग का भय किये बिना निराकुल भाव से वीर गजसुकुमाल की तरह भय और लालच को छोड़ एक भाव से जूझ पड़ता है। जो शंकालु होता है, उसे सिद्धि नहीं मिलाती। विघ्नों की परवाह किये बिना 'कार्य व साधवेयं देहं वापात येयम्' के अटल विश्वास से साहसपूर्वक आगे बढ़ते जाना ही जैन साधक का व्रत है। वह 'कंखे गुणे जाव सरीर भेम्रो' वचन के अनुसार आजीवन गुणों का संग्रह एवं आराधन करते जाता है।

साधना के विघ्न—साधन की तरह कुछ साधक के बाधक विघ्न या शत्रु भी होते हैं, जो साधक के आन्तरिक बल को क्षीण कर उसे मेरु के शिखर से नीचे गिरा देते हैं। वे शत्रु कोई देव, दानव नहीं, पर भीतर के ही मानसिक विकार हैं। विश्वामित्र को इन्द्र की दैवी शक्ति ने नहीं गिराया, गिराया उसके भीतर के राग ने। संभूति मुनि ने तपस्या से लब्धि प्राप्त कर ली, उसका तप बड़ा कठोर था। नमुचि मन्त्री उन्हें निर्वासित करना चाहता, पर नहीं कर सका। सम्राट् सनत्कुमार को अन्तःपुर सहित आकर इसके लिये क्षमा याचना करनी पड़ी, परन्तु रानी के कोमल स्पर्श और चक्रवर्ती के ऐश्वर्य में जब राग किया, तब वे भी पराजित हो गये। अतः साधक को काम, क्रोध, लोभ, भय और अहंकार से सतत जागरूक रहना चाहिये। ये हमारे भयंकर शत्रु हैं। भक्तों का सम्मान और अभिवादन रमणीय-हितकर भी हलाहल विष का काम करेगा।□

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org